

बेरोजगारी का असली पैमाना

बेरोजगारी महज एक मानवीय समस्या नहीं है जिसका सामना बेरोजगारों को करना पड़ता है। यह मौजूदा सामाजिक व्यवस्था की उत्पादन बढ़ाने के लिए समस्त उपलब्ध संसाधनों का उपयोग कर पाने की अक्षमता को अभिव्यक्त करता है। जाहिर है कि उत्पादन को दो अन्य उपादानों, भूमि और पूँजी से अलग, जो निक्षिय होते हैं, श्रम पूँजी को पैदा करने में सक्षम है। अगर समाज उत्पादन को उच्चतम बिन्दु पर ले जाना चाहता है तो वह उत्पादन के किसी भी साधन को व्यर्थ नहीं जाने दे सकता है : श्रम समेत उत्पादन के इन उपादानों को सामाजिक रूप से कुशल और पूर्ण उपयोग में लगाया जाना चाहिए।

1929 की महामंदी तक पूँजीवादी अर्थशास्त्री बेरोजगारी के सवाल में ज्यादा दिलचस्पी नहीं लेते थे। उनकी सैद्धांतिक रूपरेखा यह मानती थी कि किसी भी माल की अतिशय आपूर्ति का एकमात्र कारण यह है कि इसकी कीमत को बाजार-सफाई स्तर तक नहीं गिरने दिया जा रहा है, यानी उस स्तर तक नहीं गिरने दिया जा रहा है जिस कीमत पर पूरा माल खरीद लिया जाएगा। इस तरह बेरोजगारी को मज़दूरी के पर्याप्त नीचे नहीं गिरने का नतीजा बताया जा रहा था। और ऐसा होने का कारण थीं ट्रेड यूनियनें। अगर मज़दूरी को पर्याप्त नीचे गिरने दिया जाता तो ज्यादा मज़दूरों को काम पर रखना पूँजीपतियों को लाभदायी लगता और ऐसा वे स्वतःस्फूर्त ढंग से तब तक करते रहते जब तक पूर्ण रोजगार की स्थिति आ जाती।

लेकिन महामंदी ने, जो 1929 में शुरू हुई, इस विचार-पद्धति को काफ़ी चोट पहुँचायी। उत्पादन को घटा दिया गया, निवेश की धारा सूख गयी, मज़दूरों की छँटनी कर दी गई, और मज़दूरी भी घट गई। लेकिन घटी हुई मज़दूरी पर भी पूँजीपतियों ने काम पर मज़दूरों को रखना नहीं शुरू किया। उल्टे उत्पादन को और भी घटा दिया गया।

बेरोजगारी उन समस्याओं में केंद्रीय थी जिनपर जे.एम. कीन्स ने ध्यान दिया, हालाँकि उन्होंने इस पर पूँजीवादी समाज के सीमित ढाँचे के भीतर रहकर ही ध्यान दिया। कीन्स ने बताया कि पूँजीपति तब तक मज़दूरों को काम पर नहीं रखेंगे जब तक माँग अनुपयुक्त है। भले ही श्रम ही नहीं भूमि और पूँजी तक बेकार पड़ी रहे, क्योंकि अर्थव्यवस्था में माँग की कमी है। कीन्स ने तर्क दिया कि ऐसी परिस्थितियों में राज्य के लिए यह जरूरी होता है कि वह निवेश करके माँग को बढ़ावा दे। हालाँकि कीन्स पूरी तरह एक व्यवस्था समर्थक अर्थशास्त्री था, जिसका सरोकार पूँजीवादी व्यवस्था के टिके रहने और

स्थिरीकरण से था, मगर उसका योगदान यह रहा कि उसने इस श्रम का सफाया कर दिया कि आर्थिक व्यवस्था स्थिर है, या यह स्वतःस्फूर्त ढंग से पूर्ण रोजगार प्राप्त कर लेगी।

पिछले तीन दशकों में, कीन्स-पूर्वीय सैद्धांतिक ढाँचे ने व्यवस्था के दुकड़ों पर पलने वाले अकादमीशियनों के बीच फिर से प्रभुत्व हासिल कर लिया है। दुनिया भर में इसे शासकों द्वारा धार्मिक सत्य के समान बढ़ावा दिया जा रहा है। इसे सिर्फ औद्योगिकृत देशों में ही नहीं, बल्कि भारत जैसे देशों में भी लागू किया जा रहा है जहाँ बड़े पैमाने पर बेरोजगारी/अर्धबेरोजगारी का राज है। ऐसी स्थितियों में, सामाजिक सुरक्षा और मज़दूर संगठनों के अभाव में, श्रम शक्ति की “बाज़ार सफाया” कीमत जीविकोपार्जन के लिए आवश्यक स्तर से भी नीचे गिर सकती है।

नई आर्थिक नीतियों की शुरुआत के करीब 13 साल बीत चुके हैं, जिनका एक पहलू संगठित श्रम पर प्रहार रहा है। व्यवहार में न तो अब स्थायी प्रकृति वाली नौकरियों के लिए ठेका मज़दूरों के इस्तेमाल पर कोई अंकुश है, न ही इकाइयों की छँटनी/बंदी पर कोई लगाम है। स्थायी मज़दूरों की जगह तनखाह के एक हिस्से भर पर काम करने वाले ठेका मज़दूर ले रहे हैं। यह बात उत्पादन की लागत में मज़दूरी के घटते हिस्से, और कुल लागत में ठेका मज़दूरी के बढ़ते हिस्से में साफ झलकती है। दिसम्बर 2003 का सेंटर फॉर मॉनीटरिंग इण्डियन इकॉनोमी(CMIE) का अध्ययन बतलाता है कि, एक तरफ जहाँ भारतीय कम्पनियों की कुल लागत में मज़दूरी का हिस्सा 1991-92 के 6.1 फीसदी से घटकर 2002-03 में 4.4 फीसदी हो गया, वहीं दूसरी ओर तैयार मालों की खरीद का हिस्सा(कई मामलों में दूसरी इकाइयों को ठेके पर काम देने के कारण) इसी समय के दौरान 13 फीसदी से बढ़कर 20 फीसदी हो गया।

भारत में सरकारी रोजगार सूचनाओं पर विचार करते समय हमें यह बात दिमाग में रखने जरूरत है कि कोई व्यक्ति रोजगार-प्राप्त माना जाएगा अगर वह अध्ययन के काल के दौरान “लाभकारी गतिविधियों” में लगा हुआ है। अपना घरेलू काम या अपराध करने के अतिरिक्त, ऐसी सूचनाओं में कमोबेश हर चीज लाभकारी गतिविधि मान ली जाती है। इस परिभाषा का इस बात से कोई सरोकार नहीं होता है कि वह व्यक्ति अपनी उस गतिविधि से अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा करने लायक कमा पाता है या नहीं। एक मूँगफली बेचने वाला इतना नहीं भी बेच सकता कि दोनों वक्त रोटी खा

सके। एक घरेलू मजदूर दिन भर बीड़ियां बनाकर दस या पंद्रह रुपये ही कमा सकता है; एक परिधिगत(दरिद्र) किसान न सिर्फ खेती के लिए बल्कि अपने उपभोग के लिए भी कर्ज लेने के लिए मजबूर हो सकता है। फिर भी महज यह बात कि वह सम्बन्धित कालखण्ड के अधिकांश हिस्से में वह “लाभकारी गतिविधियों” में लगा रहा, यह दर्ज कर लेने के लिए काफी है कि उसे रोजगार हासिल है।

यह हमें अजीबो-गरीब नतीजों पर ले जाता है। सामान्य बोध से देखा जाए तो, नौकरी जीविकोपार्जन उपलब्ध कराती है, और इसलिए किसी भी नौकरीशुदा व्यक्ति को ‘गरीब’ नहीं होना चाहिए। अगर यह जीविकोपार्जन उपलब्ध नहीं कराती तो इसे रोजगार कहना मुश्किल है। अतः अगर जनसंख्या का 26 फीसदी 1999-2000 में गरीब था (योजना आयोग द्वारा दी गयी गरीबी की मजाकिया तौर पर नीची कसौटी के अनुसार), तो कोई भी श्रम शक्ति के समान हिस्से के बेरोजगार होने का अनुमान लगाएगा। मगर योजना आयोग मानता है कि इस वर्ष के दौरान सिर्फ 7.3 फीसदी श्रम शक्ति बेरोजगार थी। जाहिर है कि सरकारी सूचनाओं पर चला जाए तो कोई रोजगारशुदा और साथ ही आधिकारिक तौर पर गरीब, अपनी न्यूनतम आवश्यकताओं को पूरा कर पाने में अक्षम हो सकता है। इससे हमें उस गुण के विचार का अंदाजा चल जाता है जिसे आधिकारिक सूचनाओं में रोजगार कहते हैं।

भारत जैसे देशों में लोग बिना इस बात की परवाह किए कि मज़दूरी कितनी कम है कोई भी काम ले लेते हैं क्योंकि कोई विकल्प मौजूद नहीं है: जिन्हें नौकरी नहीं मिल पाती उनके लिए कोई बेरोजगारी बीमा नहीं है। जितने लोगों को ‘रोजगारशुदा’ माना जाता है उनमें से सिर्फ आठ फीसदी के पास संगठित क्षेत्र में नौकरियाँ हैं; बाकी असंगठित क्षेत्र में हैं जहां न्यूनतम मजदूरी आम तौर पर नहीं मिलती।

इस प्रकार भारत में रोजगार-सम्बन्धी आँकड़ों की व्याख्या उस तरह नहीं की जा सकती जिस प्रकार औद्योगिकृत देशों में होती है।

फिर भी चलिए, देखते हैं कि सरकारी आँकड़े हमें क्या बताते हैं।

रोजगार वृद्धि दर का तेजी से धीमा होना।

जैसा कि सभी जानते हैं, 1991 से संगठित क्षेत्र में रोजगार में मामूली वृद्धि हुई है, जिससे 1991-2001 के पूरे दशक में चार फीसदी बढ़ोत्तरी हुई है। और तो और, 1991 से 2001 के बीच यह

हर साल गिरा है। यह गिरावट लगातार जारी है : योजना आयोग के एक सदस्य के अनुसार, कारपोरेट सेक्टर ने अकेले 2003 में ही 10 लाख नौकरियां कम की हैं (एस. पी. गुप्ता, बिजनेस

तालिका १ : संगठित क्षेत्र रोजगार में प्रति वर्ष वृद्धि (१० लाख रोजगार)

1981-82	0.93
1982-83	0.33
1983-84	0.44
1984-85	0.43
1985-86	0.04
1986-87	0.58
1987-88	0.08
1988-89	0.25
1989-90	0.39
1990-91	0.39
1991-92	0.32
1992-93	0.12
1993-94	0.20
1994-95	0.15
1995-96	0.41
1996-97	0.31
1997-98	-0.08
1998-99	-0.06
1999-00	-0.15
2000-01	-0.17

तालिका २: रोजगार और बेरोजगारी

	10 लाख व्यक्ति		वर्ष	प्रति वर्ष वृद्धि(%)	
	1983	1993-94	1999-2000	1983 से 1993-94 से	1993-94 से 1999-2000
जनसंख्या	718.2	894.0	1004.0	2.00	1.95
श्रम शक्ति	261.3	336.0	363.3	2.43	1.31
कार्य शक्ति	239.6	315.8	336.8	2.70	1.07
बेरोजगारी दर(%)	(8.30)	(5.99)	(7.32)		
बेरोजगारों की					
संख्या	218	201	266	-0.08	4.74
	लाख	लाख	लाख		

-योजना आयोग ; राष्ट्रीय ड्रॉप्पल सर्वे, मौजूदा रोजाना आधार पर आर्थिक सर्वेक्षण 2002-03.

तालिका ३ : रोजगार, प्रति वर्ष रोजगार वृद्धि, और रोजगार लोच

रोजगार (10 लाख में)	रोजगार वृद्धि 1993-94 से 1999-2000 (% प्र.व.)	बेरोजगारी दर 1999- 2000 (%)	रोजगार लोच 1993-94 से 1999-2000 (%)	स.घ.उ. वृद्धि प्रति वर्ष 1993-94 से 1999-2000
336.73	1.07	7.32	5.99	0.16
				6.7

संख्या हैं, तो अगर आप किसी तरह काम की तलाश कर रहे लोगों की संख्या को स्थिर बनाए रखें, तो आपको आधिकारिक तौर पर बेरोजगार लोगों की एक छोटी संख्या मिलेगी, और बेरोजगारों की दर नीचे गिरेगी। मिसाल के तौर पर,

स्टैण्डर्ड, 20/01/04, में उद्धृत)।

लेकिन भारत में कुल रोजगार में संगठित क्षेत्र का हमेशा से ही छोटा हिस्सा रहा है। रोजगार और बेरोजगारी पर और व्यापक आधिकारिक आँकड़ों के लिए हमें 1983, 1993-94 और 1999-2000 के 'नेशनल सैम्पल सर्वे' चक्रों की तरफ मुड़ना होगा।

इन आँकड़ों के अनुसार, बेरोजगारी दर 1983 में 8.3 फीसदी थी; 1993-94 में यह गिरकर 6 फीसदी हुई; और 1999-2000 में यह फिर बढ़कर 7.3 फीसदी हो गई।

यह बताता है कि 90 के दशक के उत्तरार्द्ध में नई आर्थिक नीतियों के दौर में बेरोजगारी की स्थिति और बिगड़ी। रोजगार वृद्धि दर में एक तीखी गिरावट हुई—1983 से 1993-94 के दौरान 2.7 प्रतिशत से 1993-94 से 1999-2000 के दौरान 1.1 प्रतिशत। नई नौकरियों की संख्या पहले के 76 लाख प्रति वर्ष से गिरकर 35 लाख प्रति वर्ष हो गई।

"निराश मजदूरों" की तादाद में तेज बढ़ोत्तरी बेरोजगारी की स्थिति पर पर्दा डाल देती है।

मगर असल में यह आँकड़े समस्या की असल हद को छुपा देते हैं। पहली जात, सरकारी परिभाषाओं की थोड़ी व्याख्या की जरूरत है। "श्रम शक्ति" रोजगारशुदा व्यक्तियों या सक्रिय रूप से रोजगार की तलाश करते व्यक्तियों की संख्या है। "कार्य शक्ति" का तात्पर्य सिर्फ वास्तव में रोजगारशुदा लोगों की संख्या से होता है। "बेरोजगारों" की संख्या श्रमशक्ति और कार्यशक्ति के बीच का अन्तर होता है। "बेरोजगारी की दर" श्रम शक्ति के प्रतिशत के तौर पर बोरोजगारों की संख्या होती है।

"श्रम शक्ति"—यानी रोजगार-प्राप्त और काम कर सक्रिय रूप से तलाश करते लोगों की संख्या।

ऋण "कार्यशक्ति"—यानी रोजगार प्राप्त लोग = "बेरोजगार"।

"बेरोजगार" भाग(/) "श्रम शक्ति" = "बेरोजगारी की दर"।

जाहिर है कि, रोजगार शुदा लोगों की कोई भी दी गई

अगर आपकी श्रमशक्ति 100 है, और कार्यशक्ति 80, तो बेरोजगारों की तादाद हुई 20 और बेरोजगारी की दर 20 फीसदी। लेकिन अगर बिना नौकरियों की संख्या बढ़ाए, आप किसी तरह श्रमशक्ति के आधिकारिक आँकड़े को घटाकर 90 कर दें तो केवल 10 लोग बेरोजगार माने जाएंगे और बेरोजगारी की दर होगी मात्र 11.1 फीसदी(10/90)।

कमोबेश यही कारणजारी 1990 के दशक में हुई है। काई भी उम्मीद करेगा कि श्रमशक्ति की वृद्धि दर काम करने योग्य आयु(यानी 15 से 59) के लोगों की संख्या की वृद्धि दर से ज्यादा आगे-पीछे नहीं होगी। 1983 और 1993-94 के बीच, काम करने योग्य आयु की जनसंख्या प्रति वर्ष तीन प्रतिशत की रफ्तार से बढ़ रही थी जबकि श्रम शक्ति 2.43 प्रतिशत प्रति वर्ष की रफ्तार से बढ़ रही थी। दोनों दरें थोड़ी अलग थीं, मगर ज्यादा फर्क भी नहीं था। मगर 1993-94 से 1999-2000 के बीच यह स्थिति नाटकीय रूप से बदल गई। जहां काम योग्य आयु वालों की आबादी 2.8 फीसदी प्रति वर्ष की दर से बढ़ रही थी, वहीं श्रम शक्ति सिर्फ 1.31 फीसदी प्रति वर्ष की दर से बढ़ रही थी। दोनों दरों के बीच की खाई अब काफी गहरी थी। मतलब यह कि सरकार हमें यह यकीन दिला रही है कि नौकरी बाजार में नवागंतुकों की संख्या पिछले काल के 75 लाख से घटकर 46 लाख प्रति वर्ष हो गई।

काम की तलाश कर रहे लोगों की संख्या में आई इस अचानक गिरावट की वजह क्या थी जब कि काम योग्य आयु वालों की संख्या तेजी से बढ़ रही थी? स्कूलों में बच्चों के पहले से बढ़े पैमाने पर दाखिले बेशक श्रमशक्ति के आकार को छोटा करेंगे, लेकिन यह लापता मजदूरों के एक छोटे से हिस्से की ही वजह बता सकते हैं। इस गिरावट के पीछे मुख्य वजह यह थी कि नौकरियों के उपलब्ध न होने के कारण काफी मजदूरों ने नौकरी की तलाश करना ही छोड़ दिया। वे उस जमात में शामिल हो गए जिसे "निराश मजदूर" कहा जाता है।

आइए देखें कि अगर दूसरे कालखण्ड में श्रम शक्ति उसी दर से बढ़ती तो बेरोजगारी की दर कितनी होगी। उस स्थिति में 1999-2000 तक 36.3 करोड़ पहुंचने की बजाय श्रम शक्ति 38.8 करोड़ हो जाएगी। तब बेरोजगारों की संख्या 2.66 करोड़ नहीं होगी जैसा कि योजना आयोग कहता है, बल्कि 5.

1 करोड़ होगी; और बेरोजगारी की दर 7.3 प्रतिशत नहीं, बल्कि 13.2 प्रतिशत होगी। यानी लगभग दूनी।

रोजगार लोच में भारी गिरावट बेरोजगारी में तेज वृद्धि की पूर्वसूचना देती है।

योजना आयोग ने तीनों सर्वेक्षणों के बीच के कालखण्डों के लिए वृद्धि की रोजगार लोच की भी गणना की है। “रोजगार लोच” सकल घरेलू उत्पाद में प्रत्येक बिंदु प्रतिशत वृद्धि के साथ रोजगार में भी एक प्रतिशत वृद्धि के बरबस रोजगार में हुई प्रतिशत वृद्धि को कहते हैं। यानी यदि सकल घरेलू उत्पाद (GDP) में हुई एक प्रतिशत वृद्धि हो तो रोजगार लोच होगी 1। अगर GDP में हुई 1 प्रतिशत वृद्धि के साथ रोजगार में 0.1 प्रतिशत वृद्धि हुई तो रोजगार लोच 0.1 प्रतिशत हुई। यह आँकड़ा हमें बताता है कि हो रहा विकास किस हद तक नौकरियाँ पैदा करने वाला है।

पहले दौर (1983 से 1993-94) में रोजगार लोच 0.52 प्रतिशत थी : यानी GDP 5.2 प्रतिशत की सालाना रफ्तार से बढ़ रहा था, और रोजगार उसकी आधी रफ्तार से। लेकिन दूसरे दौर (1993-94 से 1999-2000) में रोजगार लोच भारी गिरावट के साथ 0.16 पर पहुँच गयी : यानी, हालांकि GDP पहले से तेज रफ्तार यानी 6.7 प्रतिशत की दर से बढ़ा, लेकिन रोजगार वृद्धि में तेज गिरावट हुई, जो अब GDP से छह गुना कम रफ्तार से बढ़ रही थी।

अब योजना आयोग दावा करता है कि श्रम शक्ति महज 1.31 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ रही है। फिलहाल बिना इस आँकड़े पर सवाल उठाए हम इस आश्चर्यजनक नतीजे पर पहुँचते हैं कि श्रम शक्ति की इस मामूली सी बढ़ोत्तरी को समेटने के लिए GDP को 8.2 प्रतिशत प्रति वर्ष की रफ्तार से बढ़ने की जरूरत होगी। इसी वजह से सरकार हमेशा आने वाले वर्षों में आठ प्रतिशत की वृद्धि दर को हासिल करने की बात करती रहती है।

क्या आने वाले कई वर्षों तक भी ऐसी वृद्धि दर प्राप्त कर पाना संभव है? नहीं। GDP वृद्धि दर 1988-89 के एकमात्र वर्ष के बाद कभी भी इस स्तर पर नहीं पहुँची है, और वह भी पिछले वर्ष के बेहद निचले आधार पर था (पिछला वर्ष भयंकर सूखे का वर्ष था)। 1990 के दशक में सिर्फ दो बार—1994-95 और 1995-96—में ही GDP वृद्धि उस स्तर तक पहुँची जो स्तर नवागंतुकों को खपा लेने के लिए जरूरी था। इसके बाद यह ठहरावग्रस्त हो गई (देखें तालिका 4)। 1992-93 से 2002-03 तक वार्षिक वृद्धि दर 5.9 प्रतिशत थी; इस काल के आखिरी छह सालों के दौरान यह 5.3 प्रतिशत रही।

बेशक जारी वर्ष 2003-04 के GDP वृद्धि दर के लिए कुछ आशावादी छलांगें आठ प्रतिशत हैं, मगर यह भी मुश्किल से ही नवागंतुकों को खपा पाएगी, और पिछले शेष को निपटाने के लिए कुछ नहीं कर सकेगी। इस तरह अगर हम पूरी तरह खुद सरकार की गणनाओं पर चलें तो 2003-04 के अंत तक 3.4 करोड़ लोग बेरोजगार होंगे और बेरोजगारी की दर 7.3

तालिका ४ : सकल घरेलू उत्पाद की वृद्धि दर (उपादान कीमत पर)

	3 साल पर औसत
1991-92	1.3
1992-93	5.1
1993-94	5.9
1994-95	7.3
1995-96	7.3
1996-97	7.8
1997-98	4.8
1998-99	6.5
1999-2000	6.1
2000-01	4.4
2000-02	5.6
2002-03	4.3

प्रतिशत से 8.8 प्रतिशत तक बढ़ चुकी होगी। इस पिछले शेष में हर साल और बेरोजगार जुड़ जाते हैं।

यह तस्वीर और बुरी ही जाती है अगर हम विल्कुल तर्कसंगत रूप से, यह मान लें कि श्रम शक्ति 1993-94 के 2.43 प्रतिशत की रफ्तार से ही बाद में भी बढ़ी। उस स्थिति में, 2003-04 के अंत तक श्रम शक्ति 42.7 करोड़ की संख्या तक पहुँच जाती है, कुल रोजगार जैसे-तैसे 34.9 करोड़ तक पहुँचता, और बेरोजगारों की संख्या 7.8 करोड़ तक पहुँच चुकी होगी। बेरोजगारी दर 13.2 प्रतिशत से बढ़कर 18.3 प्रतिशत पर सिर्फ चार वर्षों में पहुँच जाएगी।

इसके अतिरिक्त हर साल श्रम बाजार में सिर्फ ताजा आगंतुकों को खपाने के लिए GDP वृद्धि दर को 15.2 प्रतिशत के असंभव आँकड़े तक पहुँचना होगा।

यह सबकुछ सिर्फ शुद्ध रूप से सरकारी आँकड़ों और पद्धति के आधार पर ही देखा जा सकता है, सिर्फ इस तर्कसंगत सुधार के साथ कि श्रम शक्ति अपनी पुरानी दर पर ही बढ़ती रही होगी।

काम करने योग्य आयु की जनसंख्या का करीब आधा हिस्सा किसी भी प्रकार के रोजगार से मरहम है।

इन सभी गणनाओं में हमें दो अहम बातें को नहीं भूलना चाहिए।

पहली बात, “श्रम शक्ति” की सरकारी परिभाषा ऐसे

तालिका ५ : कारखाना क्षेत्र : इकाइयों, रोजगारों की संख्या और जोड़ा गया मूल्य

वर्ष	इकाइयों की सं. (हजार)	रोजगार (10 लाख)	रोजगार वृद्धि (%)	जोड़ा गया मूल्य (करोड़ रुपये)
1990-91	110.2	8.163	0.3	51,515
1993-94	121.6	8.708	0	88,434
1994-95	123.0	9.102	4.5	108,517
1995-96	134.6	10.045	10.4	139,397
1996-97	132.8	9.449	-5.9	157,349
1997-98	136.0	9.998	5.8	166,441
1998-99	131.7	8.589	-14.1	145,461
1999-2000	131.6	8.173	-4.8	154,974
2000-01	131.3	7.988	-2.3	143,621

किसी भी सूरत में कार्य करने वाले आयु के लोगों की आबादी और श्रम शक्ति के बीच का फर्क सिर्फ महिलाओं से नहीं बनता। कार्य करने वाले आयु के करीब 10 करोड़ पुरुष भी बेरोजगार हैं। एक महत्वपूर्ण आँकड़ा। जो याद रखना चाहिए वह यह है कि कार्य करने वाले आयु के समूह में सालाना वृद्धि करीब 1.8 करोड़ है, जबकि प्रति वर्ष रोजगार बढ़ातेरी 40 लाख से भी कम है।

लोगों की एक भारी जमात को छोड़ देती है जो काम करते अगर उन्हें नौकरी मिलने की कोई उम्मीद होती। कार्य करने वाले आयु वर्ग सरकारी तौर पर परिभाषित श्रम शक्ति से कहाँ ज्यादा बड़ा है। वर्ष 2000 में जब रोजगार 33.7 करोड़ था और श्रम शक्ति की सरकारी संख्या 36.3 करोड़, तो कार्य वाले जनसंख्या 57.8 करोड़ थी। मार्च 2004 तक जब रोजगार 34.9 करोड़ होगा तो कार्य वाले आबादी 66.2 करोड़ होगी, यदि मान लें कि यह आबादी 2.75 प्रतिशत प्रति वर्ष की रफतार से बढ़ रही है। दूसरे शब्दों में, 31.3 करोड़ लोग, या कार्य वाले आयु वर्ग की आबादी का तकरीबन आधा हिस्सा, किसी भी प्रकार की 'लाभकारी गतिविधि' में लग पाने में अक्षम हैं, क्योंकि आर्थिक व्यवस्था और उसके द्वारा अपनायी गयी नीतियाँ ही ऐसी हैं।

यह दलील दी जा सकती है कि कार्य वाले आयु वर्ग के बिना नौकरी के लोगों की इतनी बड़ी संख्या घरेलू श्रम के कारण है, जो रोजगार के रूप में नहीं गिना जाता, जो औरतों द्वारा किया जाता है, जो घरेलू कामों के चलते 'रोजगारशुदा' होने के लिए खाली नहीं हैं। लेकिन दरअसल वे औरतें जो रोजगारप्राप्त लोगों के बीच गिनी जाती हैं वे भी घरेलू कामों से मुक्त नहीं हैं, भले ही उनके काम का क्षेत्र कुछ भी हो—कृषि, उद्योग, या सेवा सेक्टर। इसके अलावा, औरतों के उजरती 'रोजगार' के कईरूप घर-आधारित हैं—बीड़ी बनाना, पापड़/अचार/मसाले बनाना, पटाखे/माचिस/धूपबंती बनाना, बटन सीना, फीते बनाना, कपड़ों की जाँच करना, मालाएं बनाना, सामान्य खिलौनों को साथ जोड़ना, या दवाओं या उपभेदता सामग्रियों के लिए छोटे कार्डबोर्ड बॉक्स बनाना। इसलिए उनका घरेलू काम चाहे कितना भी भारी क्यों न हो, उनके 'लाभकारी गतिविधियों' में लगने के आड़े नहीं आता। औरतों के रोजगार के रास्ते में असली बाधा यह है कि ऐसे अवसर ही उपलब्ध नहीं हैं।

दूसरी बात यह कि जिन्हें रोजगारशुदा माना जाता है—मतलब जिन्हें लाभकारी गतिविधियों में लगा माना जाता है—उनमें से एक बड़ी संख्या जीविकोपार्जन स्तर से भी कम कमा पा रही है। उनमें से कई स्वरोजगार प्राप्त हैं, या तो निम्न किसान की तरह या मामूली फेरीवालों की तरह। वे चाहें जितना कम कमा पाएँ, उन्हें जो भी काम मिलता है, वे करते हैं क्योंकि उनके पास कोई विकल्प नहीं होता। उन्हें अल्परोजगारी प्राप्त (underemployed) माना जा सकता है। उनकी संख्या का अनुमान लगा पाना तो बेहद मुश्किल है, लेकिन यह काफी विशाल संख्या है। (जैसा कि पहले भी बताया गया है, कुल रोजगारशुदा लोगों में से सिर्फ आठ फीसदी संगठित क्षेत्र में हैं।)

बेरोजगारी की समस्या इस हद तक बढ़ चुकी है। नई अर्थिक नीतियों के श्री गणेश के पहले ही यह काफी गम्भीर थी; अब यह बेहिसाब रफतार से बढ़ रही है। 'श्रम लोच' के बढ़ने और मजदूरी का स्तर नीचे आने से रोजगार के पैदा होने की बजाय, इस काल में रोजगार वृद्धि की दर तेजी से गिरी है। सबसे तेज प्रत्यक्ष रोजगार वृद्धि का क्षेत्र, यानी सेवा क्षेत्र, असल में अल्प रोजगार या प्रच्छन्न बेरोजगारी का क्षेत्र है।

कृषि संकट : गिरते रोजगार का प्रमुख कारण

रोजगार के गिरते जाने की मुख्य वजह कृषि सम्बन्धी रोजगार में शून्य वृद्धि है (करेण्ट डेली स्टेटस के अनुसार 0.02 प्रतिशत प्रति वर्ष (1993-1994 से 1999-2000))। कृषि अभी भी देश का सबसे बड़ा रोजगारदाता है। 1993-94 में यह 60.4 प्रतिशत रोजगार के लिए जिम्मेदार था जबकि 1999-2000 में 56.7 प्रतिशत रोजगार के लिए। पहले यह अल्प रोजगार शुदा लोगों की विशाल संख्या को सोख लेता था। भविष्य में यह कम

से कम होता जाएगा।

जबकि इसका एक कारण मशीनीकरण है, कृषि सम्बन्धी रोजगार में ठहराव का प्रमुख कारण जमीन का बढ़ता संकेन्द्रीकरण है, जिसकी वजह मौजूदा अर्थिक नीतियाँ हैं। चूंकि कृषि में सार्वजनिक क्षेत्र का निवेश तेजी से घटा है, तमाम आगम कीमतें (input cost) बढ़ा दी गई हैं, बैंक उधार घट गया है, घरेलू फसलें सस्ते आयातों से प्रतियोगिता का सामना कर रही हैं, और कीमत समर्थन कार्रवाइयों को कम कर दिया गया है या समेट दिया गया है, ज्यादा से ज्यादा किसान अपनी जमीनें खो रहे हैं। कुल ग्रामीण घरों में भूमिहीन घरों की संख्या 1987-88 से 1999-2000 के बीच 35 फीसदी से बढ़कर 41 फीसदी हो गई है। चूंकि छोटी खेतियाँ परिवार के सदस्यों के श्रम का ज्यादा सघन इस्तेमाल कर सकती हैं, इसलिए जब किसान अपनी जमीन खोते हैं तो रोजगार भी घटता है। परिधिगत खेत जो लाभदायी नहीं होते और इसलिए ज्यादा रोजगार पैदा कर पाने में अक्षम होते हैं, वे ग्रामीण परिवारों में 19 फीसदी से बढ़कर 22 फीसदी हो गए हैं। अतः भूमिहीन और परिधिगत को मिला दें वे कुल ग्रामीण परिवारों का 63 फीसदी हैं जबकि वे 1987-88 में 57 फीसदी थे।

भूमि का यह संकेन्द्रीकरण एक ऐसे समय में बढ़ रहा है जब पैदावार में ठहराव आ रहा है और उत्पादन जनसंख्या से कम रफ़्तार से बढ़ रहा है। यह प्रक्रिया तेजी से बढ़ते कृषि क्षेत्र के किसी गतिमान वर्ग से नहीं पैदा हो रही है, बल्कि एक संकटग्रस्त, विकलांग कृषि क्षेत्र के परजीवी वर्गों से पैदा हो रही है। अन्य जगहों पर रोजगारों की गैर-मौजूदगी की सूरत में किसान जमींदार या सूदखोर या व्यापारी के सामने बेबस हो जाता है और वे उसकी इस बेबसी का फायदा उसकी जमीन छीनकर उठाते हैं।

जब 1990 के दशक में सरकार ने ग्रामीण अवरचन विकास और कल्याण कार्यक्रमों को कम किया, उसी समय ग्रामीण गैर-कृषि रोजगार की दर 1970 और 1980 के दशकों से आधी हो चुकी थी।

औद्योगिक रोजगार की स्थिति भी दयनीय

व्या उद्योग ने उन लोगों को लिया जो कृषि में रोजगार पाने में नाकाम रहे? कर्तव्य नहीं। अगर कृषि सम्बन्धी रोजगार पहले के समय की तरह ही बढ़ता रहता तो 1993-94 और 1999-2000 के बीच इसने 2.7 करोड़ रोजगार पैदा किए होते; उल्टे, जैसा कि हमने देखा यह बिल्कुल रुक गया था। इसी कालखण्ड के दौरान उद्योगों में जरूर 92 लाख नौकरियाँ बढ़ीं, लेकिन वह कृषि क्षेत्र में 'गायब' 2.7 करोड़ रोजगारों के केवल एक-तिहाई हिस्से की भरपाई कर पातीं।

इसके अतिरिक्त, यह शब्द "औद्योगिक रोजगार" भटकाने वाला हो सकता है। जबकि एन.एस.एस. हमें बताता है कि इस काल में मैनुफैक्चरिंग क्षेत्र में 58 लाख रोजगार पैदा हुए, संगठित मैनुफैक्चरिंग क्षेत्र में इसी काल में 2 लाख रोजगार पैदा हुए और तो और, नए "औद्योगिक" रोजगार फैक्ट्रियों में नहीं दिखलाई देते। एनुअल सर्वे ऑफ इन्डस्ट्रीज (जो 10 या

ज्यादा मजदूर और बिजली इस्तेमाल करने वाली या 20 या ज्यादा मजदूर और बिजली न इस्तेमाल करने वाली सभी इकाइयों को समेटा है) की सूचनाओं के अनुसार इसी काल में असली फैक्ट्री रोजगार 87 लाख से घटकर 80 लाख रह गया। अतः ऐसा लगता है कि "मैनुफैक्चरिंग" की अतिरिक्त नौकरियाँ फैक्ट्रियों के बाहर पैदा हुई थीं, यानी बेहद छोटी इकाइयों और आवास-आधारित मैनुफैक्चरिंग में। जाहिर है कि जिन्हें एन.एस.एस. 'मैनुफैक्चरिंग इकाई' कहता है उनमें से 86 फीसदी नियमित रूप से किराए के मजदूरों का श्रम नहीं इस्तेमाल करती; 70 फीसदी परिवारों में ही स्थित हैं; और विशाल बहुसंख्या आदिम या पारम्परिक किस्म के मैनुफैक्चर में लगी है (जैसे खाद्य पदार्थ, तम्बाकू या लकड़ी के सामान, कपड़े, ईंटे, चूड़ियाँ आदि)। इस क्षेत्र का विस्तार किसी तेजी से विकासमान औद्योगिक अर्थव्यवस्था का प्रतीक नहीं है, बल्कि जैसे-तैसे अपनी जरूरतों को पूरा करने के लिए संघर्षत परिवारों का प्रतीक है।

नए "औद्योगिक रोजगार" का दूसरा स्रोत निर्माण क्षेत्र था, जहाँ इसी काल में रोजगार 1.1 करोड़ से बढ़कर 1.5 करोड़ हो गया। मगर इसी काल में निर्माण में संगठित क्षेत्र रोजगार 1.2 से घटकर 1.1 करोड़ रह गया। असंगठित क्षेत्र के निर्माण का रोजगार थकाने वाला, असुरक्षित, खतरनाक, विस्थापित, और चिकित्सा सुविधाओं, विकलांगता हरजाने, बाल शिक्षा और रहने लायक आवास की सुविधा से मरहम रोजगार है।

जब जुलाई 1991 में काफी हो-हल्ले के साथ नई आर्थिक नीतियों की शुरुआत हुई थी, तो हमें बताया गया था कि विदेशी निवेश भारी पैमाने पर नौकरियाँ पैदा करेगा। 1991-92 से 2000-01 के बीच भारत में 178 करोड़ डॉलर का सीधा विदेशी निवेश हुआ और कारपोरेट क्षेत्र में विदेशी कम्पनियों का हिस्सा काफी बढ़ा है। ऐसे निवेश के सीधे परिणाम के तौर पर रोजगार बढ़ने का कोई आँकड़ा नहीं है। लेकिन यह आश्चर्यजनक है कि 1980 के दशक के 16.9 प्रतिशत और 1970 के दशक के 28.3 फीसदी के मुकाबले 1991 से 2001 तक संगठित क्षेत्र में मैनुफैक्चरिंग रोजगार की वृद्धि दर सिर्फ 1.7 फीसदी थी। उसी समय बाजार में विदेशी कम्पनियों के बढ़ते हिस्से की वजह से कई ज्यादा रोजगार सघन छोटी कम्पनियाँ बंद हुई हैंगी, और इस प्रकार कुल मिलाकर रोजगार कम हुआ होगा।

औद्योगिक रोजगार के न बढ़ने का एक कारण उद्योगों का काफी धीमे विकसित होना है। और इस धीमे विकास की वजह माँग का स्थिर होना है। इसके अलावा जैसे-जैसे आय समाज के ऊपर के एक छोटे से तबके की ओर खिसकती जाती है, न सिर्फ उस आय का एक पहले से छोटा हिस्सा खर्च हो पाता है बल्कि जिस किस्म के मालों की माँग की जाती है वह भी बदल जाता है : कम दाम वाले सामान (रोजाना उपभोग के सामान, बर्तन, सस्ते फर्नीचर, सस्ते कपड़े और ज्यादा सुविधा-सम्बन्धी सामान (इलेक्ट्रॉनिक गुड्स, कारें, महँगे कपड़े), जिन्हें ज्यादा आयातित आगमों (imported in-

puts) की जरूरत पड़ती है और कृषि सम्बन्धी आगमों (agricultural inputs) की कम।

मान लिया जाए कि किसी वजह से गरीब किसानों को कुछ अतिरिक्त आय होती है; वे इसके पहले एक हिस्से का इस्तेमाल नई धोतियाँ खरीदने में करते हैं। धोतियों के लिए कपड़े का उत्पादन न सिर्फ कपड़ा उद्योग में नौकरियाँ पैदा करता है बल्कि आगम के तौर पर सूत की मांग करता है जो कृषि में मांग को जम्म देता है। कपड़ा उद्योग को मशीनों की जरूरत पड़ती है, जो न सिर्फ कपड़ा मशीनों के उद्योग में मांग को जम्म देती है बल्कि उन सभी उद्योगों में मांग को पैदा करती है जो इसके आगमों की आपूर्ति करते हैं—जैसे कि स्टील, जिसके लिए लोहे और कोयले के खनन की जरूरत पड़ती है, और यह सिलसिला चलता ही जाता है। अतिरिक्त फैक्ट्रियों का नई मांग को पूरा करने के लिए लगाए जाने में सीमेंट, स्टील और अन्य निर्माण सामग्रियों की जरूरत पड़ती है। इन फैक्ट्रियों में लगे मजदूरों को और कपड़े खरीदने के लिए आय प्राप्त होती है और वैसा ही सूत उगाने वाले किसानों के साथ होता है और इस तरह पूरा चक्र फिर से चल पड़ता है। इस प्रकार मांग में प्रारम्भिक वृद्धि कई गुना अधिक आय में परिणामित होती है। महत्वपूर्ण रूप से धोतियाँ तैयार करने में आवश्यक माल और तकनीक देश के अन्दर ही मौजूद है, और इसलिए मामूली मांग है उपरोक्त प्रक्रिया में देश से बाहर जाती है।

अब मान लें कि वही आय मुम्बई में वित्तीय सेक्टर में लगे एक चोटी के अधिकारी के हाथ में आती है। वह इसके एक बड़े हिस्से की बचत कर लेगा—एक हिस्सा किसी उच्च रूप से स्वचालित विदेशी बैंक में और एक हिस्सा शेयरों और म्यूचुअल फण्ड यूनिट्स में। अगर वह बहुत अमीर है तो वह इसका एक विशाल हिस्सा किसी विदेशी बैंक में जमा कर देगा, हालाँकि यह कानूनी नहीं। बची हुई राशि का एक छोटा-सा हिस्सा खाने-पीने में खर्च करेगा, लेकिन उसमें भी एक अच्छा-खासा हिस्सा महँगे रेस्टोरेंटों को जाएगा जहां बड़े टर्नओवर के लिए मामूली रोजगार ही पैदा होता है। खर्चों का एक बड़ा हिस्सा गाड़ियों, लक्जरी इलेक्ट्रॉनिक सामानों, इन्टीरियर डेकोरेशन और भारत और विदेश में फाइबर स्टार होटलों के छुटियों, अपने बच्चों को विदेश में शिक्षा दिलाने, आदि पर जाएगा। भारत में गाड़ी, लक्जरी इलेक्ट्रॉनिक सामान का उद्योग, फाइबर स्टार होटल, सभी विशाल आयात करते हैं, और अमीरों के लिए इन्टीरियर डेकोरेशन में भी बड़े पैमाने पर आयातित सामानों का इस्तेमाल होता है। इस प्रकार उसकी बचत और उपभोग का एक बड़ा हिस्सा देश से बाहर चला जाता है। शेयर मार्केट और बैंकों में उसकी बचत के एक हिस्से को संभवतः कभी निवेशित नहीं होना होता, क्योंकि कारपोरेट जगत तब तक नए निवेश नहीं करेगा जब तक कि औद्योगिक सामानों की मांग न बढ़े, और अगर कारपोरेट उधार नहीं लेंगे तो बैंक उत्पादन के लिए उधार नहीं देंगे। हमारे अधिकारी बंधु, की बचतें वित्तीय बाजारों में राशियों के एक विशालतर भण्डार का हिस्सा बन जाती हैं जो ठहरावग्रस्त उत्पादक अर्थव्यवस्था पर बड़ा से बड़ा दावा करती जाती हैं।

बेशक उसकी अतिरिक्त आय से कुछ रोजगार पैदा होगा : आयातित लक्जरी के सामानों को व्यावस्थित करने वाले मजदूरों के लिए, घरेलू नौकरों, ड्राइवरों और सिक्योरिटी गाड़ों के लिए, उसके गोल्फ कोर्स के कर्मचारियों के लिए, इत्यादि। लेकिन इस प्रक्रिया में पैदा होने वाली उत्पादक गतिविधि, आय और रोजगार धोतियों की मांग से पैदा होने वाले रोजगार से कहीं कम होगी। इसके अलावा एक सम्पूर्ण घरेलू औद्योगिक आधार, ऐसे औद्योगिक आधार को स्थापित करने और चलाने के लिए जरूरी तकनीकी जानकारियाँ धोतियों की मांग को पूरा करने की प्रक्रिया में विकसित होंगे। दूसरी तरह की मांग में ऐसा आधार और ऐसी क्षमताएँ नहीं पैदा होतीं, जहां अर्थात् गतिविधियाँ और क्षमताएँ जो विकसित होती हैं वे सीमित, अव्यवस्थित और निर्भर हैं।

सेवा क्षेत्र यानी नौकरी खोजने वालों का आखिरी आसरा

नई नौकरियों का मुख्य स्रोत सेवा क्षेत्र था जिसने 1.15 करोड़ अतिरिक्त रोजगार मुहैया कराए।

सेवा क्षेत्र में सबसे बड़ा हिस्सा “व्यापार, होटल और रेस्टोरेंट” का था, जिसने 1993-94 और 1999-2000 के बीच 1.07 करोड़ रोजगार पैदा किए और जो मैनुफैक्चरिंग से से भी बड़ा रोजगारदाता बनने को तैयार दिखता है। “व्यापार” में सभी प्रकार के मामूली फेरी वाले शामिल हैं, जो कि एक-पुरुष या एक-स्त्री वाली गतिविधि है (नौकरियों की प्रति उद्यम औसत संख्या असंगठित क्षेत्र में दो से भी कम है)। वे एक त्रिराशाजनक जीवन जी रहे हैं, जहाँ कृषि लम्बे समय से प्रच्छन्न बेरोजगारी का और कहीं न नौकरी पाने वालों की विशाल जमात को नगण्य जीविकोपार्जन उपलब्ध कराने वाला केन्द्र बनी हुई थी, वहां अब सेवा क्षेत्र भी वही भूमिका निभाता दिख रहा है।

“नई अर्थव्यवस्था” की नौकरियाँ : बेरोजगारी के पैमाने के मद्देनजर नगण्य

जाहिरा तौर पर ‘सेवा क्षेत्र’ में ‘लगे’ लोगों की असल स्थिति को मुख्य मीडिया में कोई स्थान नहीं मिलता, जो सॉफ्टवेयर और “सूचना तकनीक जनित सेवाओं” (ITES या BPO-Business Process Outsourcing) के क्षेत्र में पैदा होने वाली नौकरियों को काफी स्थान देता है। ये दोनों गतिविधियाँ विदेशी कम्पनियों, खास तौर पर अमरीकी कम्पनियों, के टेक का काम होती हैं। पहले, यानी सॉफ्टवेयर उद्योग में कारपोरेशनों की अन्दरूनी जरूरतों (जैसे, सूचना को व्यवस्थित करना) के लिए प्रोग्रामों को लिखना शामिल है। इस काम को मुख्य रूप से वे भारतीय पेशेवर सॉफ्टवेयर विशेषज्ञ करते हैं जो बाहर काम करने चले जाते हैं। दूसरे में विदेशी कम्पनियों/सरकारी एजेंसियों के तुच्छ काम शामिल होते हैं, जैसे कि फोन कॉलों का जवाब देना, दावों को व्यवस्थित करना, टेप किए गए संदेशों

से मेडिकल रिकॉर्डों को ट्रांसक्राइब करना, आदि। इन नौकरियों में बेशक बेहद तेज बढ़ोत्तरी हुई है। सॉफ्टवेयर नव्वे के दशक में लगभग शून्य से शुरू हुआ था और ITES लगभग पांच साल पहले। 2003 तक वे क्रमशः 4 लाख 60 हजार और 1 लाख 60 हजार रोजगार दे रहे थे। जबकि हमें पता है कि संगठित चेत्र में इसी कालखण्ड में नौकरियाँ कम हो रही हैं, तो ऐसी वृद्धि नाटकीय प्रतीत होती है। निश्चित तौर पर, भाजपा सरकार ने इसी चीज को अपने “भारत उदय” का एक प्रमुख अंग बनाया था और जल्दी ही उसने “ITES क्षेत्र में रोजगार की संभावनाओं को दर्शाने के लिए और इसे पसंदीदा कैरियर के रूप में प्रोत्साहित करने का अभियान हाथ में लिया।” (Business Standard, 2/12/03)

लेकिन जहां एक ओर सॉफ्टवेयर और ITES मध्य वर्ग के बेरोजगारों के एक बड़े हिस्से को ले सकता है और उनकी हताशा को ठण्डा करने में एक अहम भूमिका निभा सकता है वहां इसकी नौकरियाँ कुल रोजगार के हिस्से के तौर पर (2004 में 0.2 प्रतिशत) भी और आवश्यक कुल रोजगार के हिस्से की तुलना में भी मामूली है अमेरिका से किजनी ITES नौकरियाँ 2015 तक खिसक सकती हैं इसका फैरिस्टर रिसर्च द्वारा किया गया बेहद उदार अनुमान भी महज 33 लाख पर आकर रुक जाता है। यह अंदाजा कोई भी लगा सकता है कि इसमें से कितनी नौकरियाँ भारत आ सकती हैं जबकि हम जानते हैं कि चीन जैसे कई देश समान रूप की गतिविधियों के लिए अपने आपको तैयार कर रहे हैं। अगर यह भी मान लिया जाए कि भारत को इनमें से बीस लाख नौकरियाँ मिलती हैं तो भी हमें जरूरत है कि हम इस आंकड़े को भारतीय श्रम बाजार के आकार के बरक्स खड़ा करें। अगर भारतीय श्रम बाजार में नवागंतुकों संख्या को नौ से दस लाख प्रति वर्ष माना जाए, तो खिसक कर आए ITES रोजगार भारतीय रोजगार बाजार के सिर्फ दो प्रतिशत हिस्से का प्रतिनिधित्व करेंगे।

भारत के अधिकांश उद्योग मुख्य रूप से घरेलू मांग पर निर्भर हैं और मुख्य रूप से घरेलू आगमों का ही इस्तेमाल करते हैं। लेकिन IT और ITES उद्योग घरेलू उद्योग से आगमों का एक बेहद छोटा हिस्सा इस्तेमाल करते हैं और अपनी सेवाओं से मुख्य रूप से विदेशी मांग को संतुष्ट करते हैं। रोजगार के लिए इसके दो मतलब हैं। पहला, पिछड़े

जुड़ावों (backward linkages) के बाकी अर्थव्यवस्था से सम्बन्धों के अभाव का अर्थ यह है हक IT उद्योगों की वृद्धि अन्य उद्योगों में ज्यादा नौकरियों को नहीं जन्म देगा। दूसरा मजलब यह है कि, आग किसी वजह से विदेशी मांग गिरती है—मसलन, इन्हीं सेवाओं में दूसरे देशों से कड़ी चुनौती मिलती है या अमेरिका जैसे देश ऐसी सेवाओं की आउटसोर्सिंग पर रोक लगा दें—तो रोजगार अचानक बेहद नीचे जा सकता है। अभी तक हुई ITES नौकरियों के मामूली विस्थापन तक की अमेरिका में राजनीतिक रूप से काफी थू-थू हुई है, सॉफ्टवेयर पेशेवरों के लिए बीजा के कोटे को घटाकर आधा कर दिया गया है, भारतीय कम्पनियों को ठेके पर काम देने से अमेरिकी राज्य सरकारों को रोकने के लिए कानून पारित किए जा रहे हैं। इस तरह “इस क्षेत्र की रोजगार संभावनाओं को प्रदर्शित करने और इसे एक पसंदीदा कैरियर के तौर पर प्रोत्साहित करने के लिए” मुश्किल से कोई बुनियाद मौजूद है।

देश में रोजगार और बेरोजगारी की यह स्थिति है। यह सोच कि श्रम शक्ति की कीमत को पर्याप्त रूप से नीचे गिरा दिया जाए तो पूर्ण रोजगार प्राप्त किया जा सकता है, उन्नत पूँजीबादी देशों के लिए भी गलत है, क्योंकि पूँजीपति रोजगार देने के फैसले मजदूरी के स्तर के आधार पर नहीं बल्कि इस आधार पर लेते हैं कि लाभ सुनिश्चित करने के लिए पर्याप्त मांग मौजूद है या नहीं। लेकिन भारत में तो श्रम शक्ति की ‘बाजार सफाया’ कीमत की सोच खास तौर पर मूर्खतापूर्ण है, जहाँ कार्य करने योग्य आयु के आधे लोगों के पास किसी भी प्रकार का रोजगार नहीं है, और रोजगारशुदा आबादी का भी एक अच्छा-खासा हिस्सा विभिन्न प्रकार के स्वरोजगारों के जरिए किसी तरह जीवन चला रहे हैं। श्रम बाजार का सफाया नहीं हो सकता, यानी सभी संभावित मजदूरों को रोजगार नहीं मिल सकता, चाहे श्रम शक्ति का मूल्य कितना भी कम हो, क्योंकि देश की राजनीतिक अर्थव्यवस्था कुल मांग और रोजगार का वह स्तर पैदा कर पाने में अक्षम है। ऐसा इसलिए भी है क्योंकि भारत साम्राज्यवाद की गिरफ्त में है (विकासरुद्ध और विदेशी पूँजी के शिकंजे में)। और इसलिए इसकी विशाल उत्पादक संभावना, करोड़ों लोगों का श्रम एक फिजूल मामला बन जाता है।

‘आप्येक्टस आफ इण्डियाज़ इकॉनमी’ से साभार

नेटवर्क मार्केटिंग की असलियत

(पेज 40 से जारी)

भलाई है, न कि शोषक पर्जीवी पूँजीपति वर्ग के पीछे चलते हुए उसके इशारों पर नाचने व उसके बिछाये जाल में फँसने में। यह तय है कि अंततः उसे अपने वर्ग से टूटकर मजदूर वर्ग में शामिल होना ही है। अतएव इस मकड़जाल से बचें। जो फँस चुके हैं, वे इस चक्रव्यूह से निकलने की कोशिश करें; अन्यथा इसका बड़ा ही भयानक परिणाम भोगना पड़ेगा।

(* संदर्भ—नेटवर्क मार्केटिंग से संबंधित प्रचार-सामग्री;

जैसे—सी०डी०, कैसेट्स, पुस्तकें, सेमिनारों के भाषण आदि से।)

‘जीवन-चर्चा’ से साभार

सा विद्या या विमुक्तये

(पेज 22 से जारी)

का सहारा लेकर युवाओं का मत कोसिए। आज शिक्षा सत्ता की अनुगमिनी है। शिक्षा-नीति सत्ताधारी बनाते हैं। शिक्षक औंख मूँदकर उसका अमल करते हैं तो छात्र उन्हें बड़े बाबू, खजांची या टिकट-कलर्क ही समझते हैं। इससे अधिक कुछ भी नहीं। हाँ, जो भी सत्ता-प्रतिष्ठानों के सीमान्तों से बाहर आकर शिक्षक धर्म अनुपालन करेगा, छात्र उसे निश्चय ही सम्मान देंगे।”

भाईजी सहमत नहीं थे, पर चुप थे।